प्रेम के पाठ

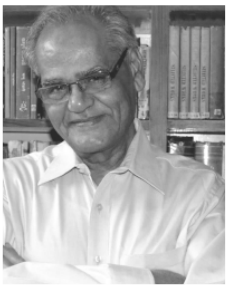

रमेश उपाध्याय

प्रेम के पाठ

https://www.hindiadda.com/prem-ke-path/

हमारे जीवन का मूल मंत्र था मजे में रहना। और इसका तरीका हमने बचपन में ही सीख लिया था। थोड़ा-सा बेवकूफ (होना नहीं) दिखना। लोग आपको थोड़ा-सा बेवकूफ समझते रहें और आप मजे में रहते रहें, इसमें क्या बुराई है?

हमारे परिवार में परीक्षाओं में प्रथम आने की परंपरा थी। पिताजी हमेशा हर कक्षा में प्रथम आए थे। भाईसाहब भी उनके नक्शे-कदम पर चलते थे और वे भी हमेशा हर कक्षा में प्रथम आते थे। हमेशा हर कक्षा का मतलब है कि क्लास टेस्ट हो, तिमाही, छमाही या सालाना इम्तिहान हो, फर्स्ट ही आना है। पिताजी अपने जमाने के फर्स्ट क्लास फर्स्ट बी.ए. पास थे। भाईसाहब भी हमेशा फर्स्ट आते थे। आगे चलकर वे एम.ए. फर्स्ट क्लास और ऊपर से गोल्ड मेडलिस्ट हुए। जाहिर है कि पिताजी और भाईसाहब ने हमारे सामने अपना-अपना आदर्श प्रस्तुत करते हुए हमसे भी इसी परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए कहा। लेकिन हमारी जीजी के लिए प्रथम आने की कोई शर्त नहीं थी, क्योंकि उनकी पढ़ाई हाई स्कूल तक ही होनी थी, जिसके बाद उनकी शादी कर दी जाने वाली थी।

लेकिन हमेशा फर्स्ट आने का जो तरीका पिताजी और भाईसाहब ने हमें बताया, बालबुद्धि होते हुए भी हमें काफी मूर्खतापूर्ण लगा। टाइमपीस में चार बजे का अलार्म लगाकर सोओ। घंटी बजते ही उठ बैठो। उठते ही लोटा भर पानी पियो और पाखाने जाओ। लोटा भर से जरा भी कम पिया, तो पेट साफ नहीं होगा। पेट साफ नहीं हुआ, तो नींद आएगी या सिर में दर्द होगा या यूँ ही पढ़ाई में मन नहीं लगेगा। पाखाने से निकलते ही गर्मी हो या कड़ाके की सर्दी, ठंडे पानी से नहा डालो। नहाकर साफ धुले हुए कपड़े पहनो और पढ़ने बैठ जाओ। बिस्तर पर नहीं, बाकायदा मेज-कुर्सी पर। पिताजी कहते थे, "तुम तो बड़े खुशकिस्मत हो कि मेज-कुर्सी और बिजली की रोशनी जैसी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। हमारे जमाने में तो किरासिन की ढिबरी या लालटेन की रोशनी में जमीन पर बोरी बिछाकर पढ़ने बैठना पड़ता था।"

हमें आदेश था कि स्कूल जाने के समय से एक घंटा पहले तक कल का पढ़ाया गया सब कुछ इस तरह दिमाग में बैठा लो कि क्लास में जो भी पूछा जाए, फौरन बता सको। जो भी सवाल दिया जाए, फटाफट हल कर सको। अब जो एक घंटा तुम्हारे पास है, उसी में तुम्हें अपना बस्ता लगाना है, नाश्ता करना है, ब्रश करना है, यूनिफॉर्म पहननी है और स्कूल पहुँचना है। स्कूल में हर पीरियड में पूरा मन लगाकर पढ़ना है, रिसेस में टिफिन खाना है, खेल के पीरियड में खेलना है। घर आकर, कपड़े बदलकर, हाथ-मुँह धोकर, खाना खाकर एक घंटे सोना है। शाम को एक घंटा खेलने जा सकते हो, पर एक घंटे से एक मिनट भी फालतू नहीं। खेलकर आने के बाद अगर गर्मियाँ हैं

तो नहाकर और सर्दियाँ हैं तो हाथ-मुँह धोकर भीगे हुए बादाम चबाते हुए एक गिलास दूध पीकर होम वर्क करने बैठ जाना है। चाहे आधी रात ही क्यों न हो जाए, उसे पूरा करके ही खाना और सोना है। वैसे मन लगाकर पढ़ोगे, तो होम वर्क फटाफट निपटा सकोगे और जल्दी से खाकर जल्दी सो सकोगे। भाईसाहब इस आदेश में अँग्रेजी की एक लाइन भी जोड़ दिया करते थे, "अर्ली टु बेड एंड अर्ली टु राइज, मेक्स अ मैन हैल्दी वैल्दी एंड वाइज।"

भाईसाहब ने पता नहीं कैसे पिताजी के नक्शे-कदम पर चलना या उनके उपदेशों पर अमल करना सीख लिया होगा! हमें तो यह अनुशासन कड़ी सजा जैसा लगा और लगा कि ऐसी जिंदगी जीने में क्या मजा। हमेशा हर कक्षा में प्रथम आना आखिर क्यों जरूरी है? फर्स्ट क्लास फर्स्ट ही क्यों? सेकेंड क्लास फर्स्ट या फर्स्ट क्लास सेकेंड में क्या बुराई है? पिताजी पुराने जमाने के हैं, इसलिए कहते हैं, "पढ़ोगे-लिखोगे बनोगे नवाब, खेलोगे-कूदोगे होंगे खराब"। उनके जमाने में नवाब होते होंगे, अब कहाँ होते हैं। होते भी हों, तो नवाब रामपुर या नवाब धामपुर कौन बनना चाहेगा? नवाब ही बनना है, तो क्रिकेट वाले नवाब पटौदी न बनेंगे! पढ़ेंगे-लिखेंगे, पास भी अच्छे से होंगे, लेकिन फर्स्ट क्लास फर्स्ट आने के लिए की जाने वाली कठोर तपस्या नहीं करेंगे। खेलेंगे-कूदेंगे, पर खराब नहीं होंगे। होंगे नहीं, पर थोड़े-से बेवकूफ दिखेंगे और मजे में रहेंगे। जैसा किसी लोकोक्तिकार ने कहा भी है, "जो सुख चाहे जीव को, तो हौलू बनके रह!"

अपने इस मूल मंत्र के मुताबिक हमने तय किया कि फेल नहीं होंगे, लेकिन फर्स्ट आने के चक्कर में नहीं पड़ेंगे। पहली बार सेकेंड आए, तो पिताजी ने हमारे दोनों कान उमेठकर उनमें खूब सदुपदेश भरे और भाईसाहब ने रिजल्ट देखकर हमारे गाल पर एक थप्पड़ जड़ते हुए अपना आदर्श हमारे सामने रखा। कान के दर्द और गाल की चोट के अनुपात में हम कुछ ज्यादा ही जोर से रोये, ताकि अम्मा और जीजी का कोमल नारी हृदय पसीज उठे और वे हमारी रक्षा के लिए सन्नद्ध हो उठें। वैसे भी हम अम्मा के 'पेटपोंछना' और जीजी के दुलारे 'छुटकू भैया' होने के कारण दोनों के लाड़ले थे। घर में सबसे छोटे होने के कारण सबका प्यार-दुलार पाने के न्यायोचित अधिकारी भी थे ही। अतः पिताजी और भाईसाहब ने एक लिमिट में रहकर ही हम पर सख्ती बरती।

लेकिन उन्होंने हमें यह समझाने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी कि हम सेकेंड आने वालों में सबसे अधिक नंबर लाए हैं, इसलिए हम में बुद्धि और प्रतिभा कम नहीं है, केवल थोड़ी मेहनत और करने की जरूरत है; फिर हमें फर्स्ट आने से कोई नहीं रोक सकता। लेकिन हमने अगली दो-तीन कक्षाओं में सेकेंड आना और उन दोनों ने हल्की

सजा और भारी उपदेश देना जारी रखा, तो हमने अगले साल थोड़ा प्रयास किया और थर्ड आ गए। परिणाम जो होना था, हुआ। सख्त सजा मिली और पहले से भी ज्यादा वजनी उपदेश सुनने पड़े। लेकिन भविष्य में सेकेंड आते रहने का हमारा रास्ता साफ हो गया, क्योंकि थर्ड से सेकेंड आना बेहतर समझा गया। हमारे परीक्षकों ने भी हम पर दया दिखाई कि पूरे शिक्षाकाल में हमें हमेशा फर्स्ट क्लास सेकेंड आने लायक नंबर दिए और दो बार तो गोल्ड मेडल जैसा भी दिया कि दो-दो नंबर कम देकर हमारी फर्स्ट डिवीजन रोक ली।

हमारे परिवार में सब पढ़े-लिखे थे। अम्मा अँग्रेजों के जमाने की मिडिल पास थीं, पिताजी अँग्रेजों के जमाने के बी.ए. पास। भाईसाहब और जीजी भी आजादी से पहले पैदा हुए थे। एक हम ही थे, जो उसी साल पैदा हुए, जिस साल देश आजाद हुआ। कारण यह था कि भाईसाहब और जीजी की उम्र में तो दो ही साल का अंतर था, पर हम जीजी के छह साल बाद पैदा हुए थे। इस प्रकार जब हम पाँच साल के थे और पहली में पढ़ते थे, जीजी ग्यारह साल की थीं और छठी में पढ़ती थीं, जबकि भाईसाहब तेरह साल के थे और आठवीं में पढ़ते थे। पिताजी अध्यापक थे और एक इंटर कॉलेज में पढ़ाते थे।

पिताजी पढ़ाने के बड़े शौकीन थे। बाहर तो पढ़ाते ही थे, घर में भी खूब पढ़ाते। उन्होंने हमें शुरू से ही प्रेम के पाठ पढ़ाए थे। उन असंख्य पाठों में से कुछ थे, अपने परमात्मा से प्रेम करो। अपने धर्म से प्रेम करो। अपनी जाति से प्रेम करो। अपनी भाषा से प्रेम करो। अपनी सभ्यता से प्रेम करो। अपनी संस्कृति से प्रेम करो। अपनी परंपराओं से प्रेम करो। अपने परिवार से प्रेम करो। अपने पड़ोसियों से प्रेम करो। अपने देश और देशवासियों से प्रेम करो। अपनी दुनिया और दुनिया भर के लोगों से प्रेम करो।

अजीब बात थी कि जिन से प्रेम करने को कहा जाता था, वे या तो अमूर्त होते थे, या पुरुष, क्योंकि स्त्रियों से प्रेम करने का कोई पाठ हमें नहीं पढ़ाया गया। स्त्रियों को हमारे यहाँ पूज्य माना जाता था, प्रेम्य नहीं। हमें शिष्टाचार के जो पाठ पढ़ाए गए थे, उनमें से एक यह था कि गुरुजन यानी बड़े तो पितातुल्य आदरणीय होते हैं - जैसे पिताजी, भाईसाहब और तमाम तरह के दादा, बाबा, चाचा, ताऊ, मामा, मौसा, शिक्षक, साधु, संत, पुजारी इत्यादि - किंतु स्त्रियाँ बड़ी हों या छोटी, सभी माता के समान पूजनीय होती हैं। "मातृवत परदारेषु" का अर्थ समझाते हुए पिताजी हमसे कहा करते थे कि पराई स्त्रियों को माँ के समान मानना चाहिए, अर्थात तुम्हारी एक संभावित पत्नी को छोड़कर संसार में जितनी भी स्त्रियाँ हैं, सब माँ के समान हैं और

माँ पूजनीय होती है, इसलिए वे सब भी पूजनीय हैं। वे तुमसे उम्र में बड़ी हों या छोटी, सब माँ के समान हैं।

"उम्र में छोटी भी?" यह पूछने पर पिताजी बताते थे, "परदारा वही नहीं है, जो विवाहित होकर पराई हो चुकी है। जो कल विवाहित होकर पराई बनने वाली है, वह भी परदारा है। इसलिए उम्र में छोटी कुँवारी लड़की भी मातृवत है और पूजनीय है। वैसे ही, जैसे छोटी बहनें, सगी छोटी बहनें और अपनी बेटियाँ भी पूज्य होती हैं। राखी बँधवाते समय छोटी बहन के भी पाँव छुए जाते हैं, बेटी के विवाह के समय उसके भी पाँव छुए जाते हैं। क्यों? इसलिए कि वे भी परदारा हैं। इसीलिए उन्हें पराया धन कहा जाता है।"

हमें याद था कि जब तक जीजी की शादी नहीं हुई थी, हम अम्मा के साथ जीजी के भी पाँव छुआ करते थे। हमारी कोई छोटी बहन तो थी नहीं, इसलिए कानपुर में ही रहने वाले हमारे मामा की बेटी माधुरी हमें राखी बाँधती थी। राखी बँधवाते समय हम उसके भी पाँव छुआ करते थे और वह नटखट हमें बड़ी-बूढ़ियों की तरह आशीर्वाद दिया करती थी। जीजी की शादी हो गई और भाभी आ गई, तो हमें उनके भी पाँव छूकर प्रणाम करने को कहा गया। समझाया भी गया, "बड़ा भाई पिता के समान होता है, तो भाभी माँ के समान हुई न!"

किशोरावस्था से निकलकर युवावस्था में प्रवेश करते समय ही हमें फिल्में देखने के साथ-साथ 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' नामक पत्रिकाओं में प्रेम कहानियाँ पढ़ने का चस्का लग चुका था। संक्षेप में, हम चाहने लगे थे कि हम भी किसी से प्रेम करें। लेकिन पिताजी ने "परदारेषु मातृवत" का पाठ पढ़ाकर हमारे लिए मानो प्रेम के सभी मार्ग बंद कर दिए थे, क्योंकि उस पाठ के अनुसार हमारी दूर भविष्य में संभावित पत्नी के अतिरिक्त संसार की समस्त स्त्रियाँ परदारा या तो थीं या भविष्य में हो जाने वाली थीं। मुहल्ले-पड़ोस की और स्कूल में हमारे साथ पढ़ने वाली वे सुंदर-सुंदर लड़कियाँ भी, जिनसे प्रेम करने को हमारा मन मचलता था, पराया धन की श्रेणी में आती थीं और "परदारेषु मातृवत" वाले श्लोक में ही आगे का सूत्र था "परद्रव्येषु लोष्टवत" अर्थात पराए धन को 'लोष्ट' यानी मिट्टी के ढेले के समान मानना चाहिए। इसके अनुसार जैसे रास्ते में पड़े ढेलों की तरफ ध्यान नहीं दिया जाता, वैसे ही हमें लड़कियों की तरफ ध्यान नहीं देना चाहिए था। आखिर हम अभी विद्यार्थी थे और पिताजी द्वारा बार-बार सुनाया हुआ "काकचेष्टा वकोध्यानम्" वाला वह श्लोक हमें हमेशा याद रखना था, जिसके अनुसार विद्यार्थी के पाँच लक्षणों में सबसे मुख्य लक्षण यह है कि वह अपनी पढ़ाई पर (केवल कोर्स की पढ़ाई पर) ही ध्यान केंद्रित किए रखने वाला हो। मगर हम नासमझ-से दिखते हुए भी यह समझ चुके थे कि

पिताजी की बातें और उनके श्लोक-फिश्लोक "सब कहने-सुनने की बातें" हैं, उन पर अमल-वमल करना जरूरी नहीं है।

उदाहरण हमें अपने घर में ही मिल चुके थे। नन्हे-मुन्ने कासिद के रूप में हमने जीजी के प्रेम-पत्र उनके प्रेमी तक और भाईसाहब के प्रेम-पत्र उनकी प्रेमिका तक पहुँचाने का काम किया था और ऐसी होशियारी से किया था कि अम्मा और पिताजी को कभी भनक भी नहीं पड़ी थी। (हमारी सेवाओं के बदले में जीजी और भाईसाहब द्वारा इनाम या रिश्वत के रूप में जो पैसे चोरी-चोरी हमें दिए जाते थे, उनसे हम चोरी-चोरी फिल्में देखकर प्रेम के पाठ पढ़ते थे।) हालाँकि जीजी की शादी उनके प्रेमी से और भाईसाहब की शादी उनकी प्रेमिका से नहीं हुई, लेकिन दोनों ने प्रेम तो किया ही न! इसलिए हमने सोच लिया था कि हम भी प्रेम करेंगे।

प्रेम करने का निश्चय करने के बाद हमारे सामने समस्या उठी कि प्रेम किस लड़की से किया जाए। हमारी देखी हुई फिल्मों और पढ़ी हुई कहानियों के अनुसार लड़की सुंदर तो होनी ही चाहिए थी, साथ ही ऐसी भरोसेमंद भी अवश्य होनी चाहिए थी, जो प्रेम-प्रसंग में गोपनीयता के महत्व को समझती हो। अगर उसने स्कूल में या अपने घर जाकर हमारी शिकायत कर दी, तो पिटाई निश्चित थी। बाहर पिटकर हमारे बदनाम होने की और उस बदनामी के कारण पुनः घर में पिटने की प्रबल आशंका थी। हम जानते थे कि जब पिताजी के करकमलों से हमारी पिटाई होगी, तब भाईसाहब यह भूल जाएँगे कि वे भी कभी प्रेम करते थे और हम उनके कासिद बनकर उनकी सेवा किया करते थे।

ऐसी सुंदर और भरोसेमंद प्रेमिका खोजने के लिए हमने गली-मुहल्ले की लड़कियों से लेकर स्कूल में साथ पढ़ने वाली लड़कियों तक खूब नजर दौड़ाई, पर इन दोनों गुणों से युक्त कोई लड़की नजर न आई। जो लड़कियाँ सुंदर थीं, वे भरोसेमंद नहीं थीं। जो भरोसेमंद हो सकती थीं, वे सुंदर नहीं थीं। अंततः हमें अपनी ममेरी बहन माधुरी याद आई, जो बहुत सुंदर थी और अपने जेबखर्च के लिए मामा-मामी से मिले पैसे कभी-कभी चोरी से हमें सिनेमा देखने के लिए दिया करती थी। मामा-मामी सिनेमा कभी-कभार ही देखते थे और बड़ी होती इकलौती लड़की को सिनेमा के दुष्प्रभावों से बचाने के लिए उसे प्रायः धार्मिक फिल्में ही दिखाते थे।

माधुरी हमें सिनेमा देखने के लिए चोरी-चोरी पैसे क्यों देती थी?

बात यह थी कि तब तक भारत में टी.वी. नहीं आया था और मनोरंजन का मुख्य साधन सिनेमा या फिर रेडियो था, जिस पर रेडियो सीलोन से प्रसारित और अमीन

सायानी द्वारा प्रस्तुत बिनाका गीतमाला नाम का फिल्मी गानों का कार्यक्रम लड़कियों के बीच सबसे लोकप्रिय कार्यक्रम था। माधुरी फिल्मों और फिल्मी गानों की दीवानी थी। वह फिल्मी गाने सुनती थी, याद करती थी और गाती-गुनगुनाती रहती थी। उन दिनों खारी बावली दिल्ली से छपी फिल्मी गानों की किताबें एक-एक आने में बिकती थीं। तब तक दशमलव प्रणाली शुरू नहीं हुई थी और बाजार से लेकर गणित की पुस्तकों तक में रुपया-आना-पाई, मन-सेर-छटाँक और गज-फुट-इंच वाला हिसाब चलता था। एक रुपये में सोलह आने होते थे और एक आने में हर फिल्म के गानों की सोलह पेजी किताब मिलती थी। वह 'किताब' दरअसल किसी घटिया प्रेस में बेशुमार गलतियों के साथ सस्ते अखबारी कागज पर छपा एक सोलह पेजी फर्मा होता था, जिसे किसी प्रकार की कटिंग-बाइंडिंग के बिना सिर्फ मोड़कर 'किताब' बना दिया जाता था। लेकिन ये किताबें बहुत बिकती थीं और बाजार में उनकी माँग हमेशा बनी रहती थी। ब्याह-शादी में गाने-बजाने की शौकीन महिलाएँ और लड़कियाँ उन्हें खरीदती थीं और सहेजकर रखती थीं। खुद बाजार जाकर फिल्मी गानों की किताबें खरीदना उनके लिए "हाय बेहया-बेशरम" वाली बात थी, इसलिए वे किसी बच्चे को इकन्नी-दुअन्नी पकड़ाकर बाजार दौड़ा देती थीं कि वह जाकर 'आन', 'अंदाज', 'दीदार', 'अनारकली' या 'नया दौर' के गाने ले आए। लड़कियों में तो नई से नई फिल्मों के गाने खरीदने की होड़ भी लगी रहती थी।

हमारी ममेरी बहन माधुरी जेबखर्च के लिए रोजाना मिलने वाली इकन्नी फिल्मी गानों की किताबें खरीदने और नई फिल्मों की स्टोरी सुनने पर खर्च किया करती थी। वह जेबखर्च के लिए प्रतिदिन मामा या मामी से मिलने वाले एक आने को चटोरी लड़कियों की तरह चाट-पकौड़ी या गोलगप्पे खाने पर खर्च नहीं करती थी। (उन दिनों अधन्ने में चाट का पूरा पत्ता या दोना आता था और एक आने के आठ गोलगप्पे मिलते थे।) वह उन पैसों को बचाती थी और एक रुपया पूरा हो जाने पर चुपके से हमें थमा देती थी। वह हमसे एकाध साल ही छोटी थी और हमसे एक ही क्लास पीछे थी, लेकिन अपने घर में उसने हमारी विद्वत्ता के झंडे गाड़ रखे थे। वह स्वयं को पढ़ाई में कमजोर बताती थी और हमारे बारे में कहती थी कि हम बहुत अच्छा पढ़ाते हैं। मामा-मामी ने उसके लिए ट्यूशन लगाने के बजाय हमारी मुफ्त सेवाएँ इस प्रकार ले रखी थीं कि हम छुट्टी वाले दिन आकर घंटे-दो घंटे उसे पढ़ा दिया करें। सो जब हम उसे पढ़ाने जाते, वह चुपके से एक पुड़िया में बँधी सोलह इकन्नियाँ या आठ दुअन्नियाँ या चार चवन्नियाँ या दो अठन्नियाँ हमें पकड़ा देती। उसके दिए एक रुपये में से हम सिनेमा का सेकेंड क्लास का दस आने वाला टिकट लेकर नई फिल्म देखते थे और बाकी छह आनों की फिल्मी गानों वाली 'किताबें' खरीदते थे। अगली बार जब

हम उसे पढ़ाने जाते, अपनी किसी किताब में छिपाकर ले जाई गई वे 'किताबें' उसे दे देते और पढ़ाने के बहाने देखी हुई फिल्म की पूरी स्टोरी उसे सुना देते। वह हमारे शब्दों के सहारे अपनी कल्पना में पूरी फिल्म देख लेती, उसके संवाद याद कर लेती, उसके गानों की सिचुएशन अच्छी तरह समझ लेती, अगले दिन स्कूल जाकर अपने साथ पढ़ने वाली लड़कियों पर शान से नई फिल्म देखने का रौब जमाती और उनके खर्चे पर चाट-पकौड़ी खाकर उसकी स्टोरी उन्हें सुनाती।

इस प्रकार हम और माधुरी ममेरे-फुफेरे भाई-बहन होते हुए भी एक-दूसरे के राजदार थे और हमें लगा कि प्रेम के लिए वह उपयुक्त पात्र है। सुंदर तो है ही, भरोसेमंद भी है। हमें भी अपने घर से जेबखर्च के लिए एक आना प्रतिदिन मिलता था। हमने पाँच दिन के पाँच आने बचाए, माधुरी के लिए फिल्मी गानों की पाँच किताबें खरीदीं और चुपके से उसके हवाले करते हुए प्रेम निवेदन कर दिया।

माधुरी पहले तो हक्की-बक्की रह गई, फिर उसकी आँखें डबडबा गई। टूटे-फूटे शब्दों में उसने जो कहा, उसका सार यह था कि हम बहुत अच्छे हैं, उसे बहुत अच्छे लगते हैं, फर्क यही है कि वह जो कह नहीं पा रही थी, हमने कह दिया। और कि वह हमारे प्रेम को अपना सौभाग्य मानकर स्वीकार कर लेती, मगर क्या करे, भाई-बहन का पवित्र रिश्ता बीच में आ गया। ममेरी ही सही, वह हमारी बहन है और भाई-बहन के बीच प्रेम नहीं हो सकता। उसने यह भी कहा कि काश हम लोग मुसलमान होते, जिनमें ममेरे-फुफेरे भाई-बहन में शादी हो जाती है। हमारा (और शायद अपना भी) दिल टूटने से बचाने के लिए उसने यह भी कहा कि वह भगवान से प्रार्थना करेगी कि अगले जनम में हमें फिर मिलाए, मगर हिंदू भाई-बहन न बनाए।

दिल-विल तो हमारा नहीं टूटा, लेकिन प्रेम का पहला पाठ हमने पढ़ लिया : प्रेम करने से पहले अच्छी तरह देख-भाल लेना चाहिए कि कोई पवित्र रिश्ता तो बीच में नहीं आ रहा।

जब हम नवीं कक्षा में पढ़ते थे, एक इंग्लिश टीचर स्कूल में नई-नई आई थीं। वे इतनी सुंदर थीं कि उन्हें देखते ही हमें उनसे प्रेम हो गया। कक्षा में उनके आते ही हम उन्हें देखने लगते और देखते ही रह जाते। वे क्या पढ़ाती थीं, हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ता था। वे कई बार हमसे पूछ चुकी थीं कि हम कहाँ खोए रहते हैं। लेकिन हम उनके द्वारा पूछे जाने वाले पढ़ाई से संबंधित सवालों की तरह इस सवाल का जवाब भी नहीं दे पाते थे। हम चीजों के खो जाने या उन्हें खो देने का मतलब तो जानते थे, क्योंकि हमारी चीजें अक्सर खोती रहती थीं; एक बार हम दशहरे के मेले में खुद भी खो गए थे और

बड़ी मुश्किल से पाए गए थे, इसलिए भीड़ में खो जाने का मतलब भी जानते थे; लेकिन कक्षा में अपनी जगह पर बैठा-बैठा कोई कैसे खो सकता है, यह नहीं जानते थे। हम उन्हें एकटक देखते रहकर बड़ा सुख पाते थे। लेकिन यह नहीं बता सकते थे कि हम क्या पाते हैं। जानते और बातें बनाना भी जानते होते, तो शायद उनसे कहते - मैम, यह पूछिए कि हम क्या पाए रहते हैं!

एक दिन कक्षा के बाहर कहीं जाते हुए हम उन्हें अकेले में मिल गए, तो रोककर बोलीं, "तुम क्लास में मुझे घूरते क्यों रहते हो?"

उनका सुंदर चेहरा क्रोध में ऐसा तमतमाया हुआ था कि भयभीत होकर हमने सच बोल दिया, "मैम, आप हमें बहुत अच्छी लगती हैं।"

"मतलब, तुम्हें मुझसे प्रेम हो गया है?"

हमने पहली बार जाना कि 'घिग्घी बँध जाना' और 'सिट्टी-पिट्टी भूल जाना' क्या होता है।

तब उन्होंने वहीं खड़े-खड़े हमें समझाया कि प्रेम हो जाने वाली बात बकवास है। प्रेम होता नहीं, किया जाता है। और वह कभी भी, कहीं भी, किसी से भी नहीं किया जाता।

"अभी तुम्हारी उम्र मन लगाकर पढ़ाई करने की है। बड़े हो जाओ, पढ़-लिखकर कुछ बन जाओ, तब अपने लायक कोई लड़की देखकर उससे प्रेम और विवाह कर लेना।" कहकर वे मुस्कराईं और हमारी पीठ थपथपाकर आगे बढ़ गईं।

इस प्रकार हमने प्रेम का दूसरा पाठ पढ़ा, प्रेम होता नहीं, किया जाता है, उसे करने की एक उम्र होती है, उससे पहले कुछ बनना होता है, और प्रेम जो है सो विवाह के लिए किया जाता है।

उस दिन हमने अपनी इंग्लिश टीचर को ही नहीं, किसी भी स्त्री या लड़की को घूरकर न देखने की, देखकर उसे देखते ही न रह जाने की और अपनी सुध-बुध भूलकर उसी में खोए न रह जाने की कसमें खा लीं और मन लगाकर पढ़ाई करने की, पढ़-लिखकर कुछ बन जाने की और उसके बाद अपने लायक कोई लड़की देखकर उससे प्रेम और विवाह करने की प्रतिज्ञाएँ कर लीं।

हमारी कसमें न टूटें और प्रतिज्ञाएँ पूरी हों, इसका उपाय हमें यही सूझा कि स्त्रियों या लड़कियों के सामने या तो हम नीचे देखें या इधर-उधर। मगर वास्तव में हम उनकी

ओर न देखते हुए भी उन्हें बहुत ध्यान से देखते थे, क्योंकि आज नहीं तो कल, हमें प्रेम और विवाह तो करना ही था और करने से पहले इन दोनों चीजों को समझना था। ममेरी बहन माधुरी ने जो पाठ हमें पढ़ाया था, उसके अनुसार हमने 'पवित्र रिश्तों' वाली स्त्रियों और लड़कियों को अपने अध्ययन का विषय बनाया और यह ज्ञान पाया कि उनमें से प्रायः सभी का कभी न कभी, किसी न किसी से प्रेम रहा है, लेकिन एकाध को छोड़कर किसी का भी प्रेम विवाह के रूप में सफल नहीं हुआ है।

स्कूल की पढ़ाई पूरी करके कॉलेज में आ जाने पर भी हमने लड़कियों को देखते ही नजरें झुका लेना या इधर-उधर देखने लगना जारी रखा, तो हमारे बारे में मशहूर हो गया कि हम बहुत शरमीले हैं। हमारे सहपाठी हमें बुद्धू समझते थे और समझाते थे कि लड़कियों की तरफ देखो, उनसे आँखें मिलाकर बात करो, क्योंकि उनमें से कुछ तुमसे नैना मिलाना और अँखियाँ लड़ाना चाहती हैं। मगर हम अपनी कसमों और प्रतिज्ञाओं के चलते शरमीले बने रहे। यहाँ तक कि हम पर एक चुटकुला भी बन गया कि हम फिल्म देखते समय भी, जब कोई लड़की परदे पर आती है, नीचे या इधर-उधर देखने लगते हैं।

इस प्रकार हम न तो प्रेम में अंधे हुए न पागल। हमेशा शरमीले और शरीफ कहलाए। लेकिन हमारे आस-पास - सहपाठियों और शिक्षकों के बीच, मुहल्ले और पड़ोस में, नगर और प्रदेश में, देश और विदेश में - जो प्रेमलीलाएँ होती थीं, उनके समाचार-श्रोता के रूप में प्रत्यक्ष और साहित्य-पाठक के रूप में परोक्ष साक्षी बनकर प्रेम के विविध रूपों का हमारा अध्ययन बराबर जारी रहा। हम अंतरजातीय, अंतरवर्णीय, अंतरधार्मिक, अंतरप्रांतीय तथा अंतरदेशीय प्रेम विवाहों के बारे में पढ़ने, सुनने और जानने को विशेष रूप से उत्सुक रहते थे। ज्यों-ज्यों हम इस प्रकार के प्रेम और विवाह से संबंधित विभिन्न कॉमिक, रोमांचक और मार्मिक किंतु भयानक रूप से हिंसक पक्षों से परिचित होते जा रहे थे, त्यों-त्यों प्रेम हमारे लिए बड़ी और उससे भी बड़ी गुत्थी बनता जा रहा था।

प्रेम के हिंसक पक्ष हमने फिल्मों में भी देखे थे, कहानियों और उपन्यासों में भी पढ़कर जाने थे, लेकिन समाचारों और उन पर बनी सत्यकथाओं में प्रेम से संबंधित हिंसा के जो रूप हमारे सामने आते थे, बिलकुल भिन्न होते थे। फिल्मों और कहानियों में प्रेम से जुड़ी हिंसा के तीन रूप प्रचलित थे: कॉमिक, जैसे प्रेम करने वाली लड़की के दकियानूसी बाप द्वारा की जाने वाली हल्की-सी पिटाई; रोमांचक, जैसे नायक और खलनायक के बीच लड़की को लेकर होने वाली मारामारी या मार्मिक, जैसे प्रेम में असफल रहने पर नायक-नायिका में से किसी एक की आत्महत्या से अथवा दोनों की

'बेदर्द जमाने' द्वारा की जाने वाली हत्या। मगर हिंसा के ये तीनों रूप अंततः मनोरंजक होते थे। इसलिए उन्हें देख-पढ़कर हम हँसें चाहे रोएँ, वे हमें अच्छे लगते थे। उनसे हमें डर नहीं लगता था, बल्कि जोश आता था कि "चाहे सिर फूटे या माथा" हम भी प्रेम करेंगे। लेकिन समाचारों और सत्यकथाओं में प्रेम से जुड़ी हिंसा कभी प्रेम करने वाली लड़की को उसके रूढ़िवादी माता-पिता और भाई-भाभी द्वारा ही जलाकर मार डालने या काटकर घर में ही गाड़ देने के रूप में सामने आती थी; कभी जातिवादी पंचों-सरपंचों द्वारा प्रेमी-प्रेमिका दोनों को लाठियों से पीट-पीटकर या कुल्हाड़ियों से काट-काटकर या गोलियों से भून-भूनकर मार डालने के रूप में सामने आती थी; तो कभी सांप्रदायिक नेताओं द्वारा कराए गए भयानक दंगों के रूप में सामने आती थी। तब प्रेम के ये हिंसक पक्ष हमें भयानक रूप से आतंकित करने के साथ-साथ घोर घृणा से भर देते थे।

इस प्रकार हमने प्रेम का तीसरा पाठ पढ़ा : प्रेम कहानियाँ काल्पनिक होती हैं, वे मजा तो दे सकती हैं, मार्ग नहीं दिखा सकतीं; इसलिए प्रेम के इन काल्पनिक रूपों से बचकर और हिंसक रूपों से लड़कर हमें प्रेम का मार्ग स्वयं बनाना पड़ेगा।

और हमने निश्चय किया कि हम प्रेम और विवाह तो अवश्य करेंगे, लेकिन यह देखकर करेंगे कि लड़की और उसके माता-पिता या अभिभावक रूढ़िवादी, जातिवादी और संप्रदायवादी न हों। ऐसा प्रेम और विवाह स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होने पर ही किया जा सकता था, इसलिए हमने निश्चय किया कि पढ़ाई करके हम भाईसाहब के साथ नहीं रहेंगे (पिताजी इस बीच गुजर चुके थे), किसी दूसरे शहर में नौकरी करेंगे और वहीं रहकर प्रेम और विवाह करेंगे।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हमने कानपुर में रहते हुए प्रेम के सारे रास्ते बंद कर रखे थे। हमने अपनी तरफ से बाहर जाकर किसी से प्रेम करने का रास्ता बंद कर रखा था, लेकिन बाहर से कोई हमसे प्रेम करने आए, तो उसके आ सकने का रास्ता खुला रखा था। उस रास्ते से हमारे जीवन में तीन लड़कियाँ और दो स्त्रियाँ आई। अर्थात तीन भावी परदाराएँ और दो वर्तमान परदाराएँ। पाँचों एक साथ नहीं, एक-एक करके आई, लेकिन पाँचों ही यह घोषणा-सी करती हुई आई कि उन्हें "मातृवत परदारेषु" वाली दृष्टि से नहीं, बल्कि "मित्रवत परदारेषु" वाली दृष्टि से देखा जाए। मगर उनकी मित्रता कुछ नहीं, काफी अजीब थी।

एक मामले में वह मित्रता जब तक शादी नहीं हो जाती, तब तक की वक्तकटी या मौज-मस्ती थी।

दूसरे मामले में वह मित्रता स्वयं अपना वर खोजकर स्वयंवर रचाने निकली आधुनिका की तलाश थी।

तीसरे मामले में वह मित्रता धोखा दे भागे पूर्व प्रेमी के विरुद्ध हमें सच्चा प्रेमी बनाने की चुनौती थी।

चौथे मामले में वह मित्रता परदेस में रह रहे पति के अभाव में देह की भूख मिटाने की कोशिश थी।

पाँचवें मामले में वह मित्रता पति की नपुंसकता के कारण सूनी गोद को संतान से भर देने की करुण पुकार थी।

हम तब भी नहीं जानते थे और आज भी नहीं जानते - शायद भविष्य में भी कभी नहीं जान पाएँगे - कि प्रेम वास्तव में क्या होता है। मगर यह जानने में हमने देर नहीं लगाई कि यह और जो भी हो, प्रेम नहीं है। इसलिए हम ऐसे प्रेम को हमेशा हाथ जोड़कर विदा करते रहे। इसमें हमारे हौलूपन का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा।

जब हम एम.ए. में पढ़ रहे थे और भाईसाहब की इच्छा के विरुद्ध अँग्रेजी भाषा और साहित्य की जगह हिंदी भाषा और साहित्य पढ़ रहे थे, तब एक दिन अचानक हमने पाया कि हम प्रेम के कवि हैं। हुआ यह कि कॉलेज की वार्षिक पत्रिका के लिए छात्रों से रचनाएँ माँगी गई, तो हमने 'यह तो प्रेम नहीं' शीर्षक से पाँच खंडों वाली एक कविता लिखी और उन प्रोफेसर साहब के पास ले गए, जो पत्रिका के हिंदी खंड के संपादक थे। वे हिंदी के प्रोफेसर ही नहीं, साहित्यकार भी थे। जिस समय हम उनके पास गए, कॉलेज में छुट्टी होने का समय था और वे स्टाफ रूम में अकेले बैठे छात्रों की रचनाएँ पढ़ रहे थे। वे हमें पढ़ाते थे, जानते थे और अच्छा विद्यार्थी मानते थे। उन्होंने सरसरी नजर से हमारी कविता देखी और कहा, "बैठो।"

स्टाफ रूम में छात्र जा तो सकते थे, शिक्षकों से बातचीत भी कर सकते थे, लेकिन खड़े-खड़े ही। इसलिए हम बैठने का आदेश पाकर भी खड़े ही रहे। उन्होंने फिर बैठने के लिए कहा, तो हम सकुचाते हुए उनसे कुछ हटकर उसी सोफे पर बैठ गए, जिस पर वे बैठे थे। उन्होंने हमारी कविता ध्यान से पढ़ी और पूछा, "प्रेम किया है?"

"जी, नहीं।" हमने दोटूक उत्तर दिया।

"और प्रेम पर कविता लिखते हो!" उन्होंने व्यंग्यपूर्वक कहा।

"यह कविता प्रेम पर नहीं है, सर!" हमने विनम्र किंतु मजबूत स्वर में कहा, "इसका शीर्षक ही है 'यह तो प्रेम नहीं'।"

"जो प्रेम नहीं है, उसे वही कहो, जो वह है।" हमें लगा कि हमारी कविता अस्वीकृत हो गई, लेकिन उन्होंने कहा, "लो, इसे ले जाओ। यह एक कविता नहीं, पाँच अलग-अलग कविताएँ हैं। इनके अलग-अलग शीर्षक दो। सोचो कि जो प्रेम नहीं है, वह क्या है। उसे वही नाम दो, जो वह वास्तव में है।"

हम कविता लेकर उठने लगे, तो उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "तुम्हारी ये कविताएँ तो हम कॉलेज की पत्रिका में छाप देंगे। लेकिन तुम कुछ ऐसी कविताएँ लिखो, जिनमें प्रेम हो और जिन्हें प्रेम की कविताएँ कहा जा सके। अच्छी होंगी, तो उन्हें हम किसी साहित्यिक पत्रिका में प्रकाशित कराएँगे।"

हमने उस कविता की पाँच कविताएँ तो बनाई, लेकिन शीर्षक एक ही रखा - 'प्रवंचना : पाँच कविताएँ'। उनके शीर्षक हमने अलग-अलग रखे : 1. प्रवंचना, 2. प्रवंचना, 3. प्रवचंना इत्यादि। यह काम आसानी से हो गया, लेकिन प्रेम कविताएँ लिखने में बड़ी मुश्किल पड़ी। अंततः हमने '1. मूर्खता' और '2. मूर्खता' शीर्षक से दो कविताएँ लिखीं। पहली कविता हमने अपनी ममेरी बहन से प्रेम निवेदन करने की मूर्खता पर लिखी और दूसरी अपनी इंग्लिश टीचर को सुध-बुध भूलकर एकटक देखते रहने की मूर्खता पर।

साहित्यकार प्रोफेसर हमारे दोनों कारनामों से खुश हुए। उन्होंने हमारी पहली पाँच कविताएँ कॉलेज मैगजीन में छापीं और दूसरी दो कानपुर से ही निकलने वाली एक साहित्यिक पत्रिका में छपवाई। आश्चर्य कि उन दो कविताओं के छपते ही हम प्रेम के कवि मान लिए गए।

इस प्रकार हमने प्रेम का चौथा पाठ पढ़ा, प्रेम के नाम पर ऐसा बहुत कुछ होता है, जो प्रेम नहीं होता और प्रेम मूर्खता कहलाने पर भी प्रेम ही रहता है।

एम.ए. फाइनल में हमारे साहित्यकार प्रोफेसर हमें मध्यकालीन काव्य और उसका इतिहास पढ़ाते थे। जब से उन्होंने हमारी कविताएँ प्रकाशित कराई थीं, हम उन्हें अपना साहित्यिक गुरु मानने लगे थे। वे प्रगतिवादी माने जाते थे, लेकिन हमें वे खासे परंपरावादी लगते थे। हम से कहते थे, "अच्छे कवि बनना चाहते हो, तो मध्यकालीन काव्य को ध्यान से पढ़ो। रीतिकाल और भक्तिकाल की कविता को समझे बिना तुम न तो हिंदी कविता को समझ सकते हो, न हिंदी में अच्छी कविता लिख सकते हो -

खासकर प्रेम कविता - क्योंकि प्रेम और प्रेम कविता के अच्छे-बुरे तमाम तरह के रूप तुम्हें उसी में मिलेंगे, जिनसे तुम यह सीख सकते हो कि अच्छी प्रेम कविता क्या होती है। और देखो, एम.ए. के पाठ्यक्रम में जितना रीतिकालीन और भक्तिकालीन काव्य लगा हुआ है, उतना ही पढ़ने से दूसरे छात्रों का काम शायद चल जाए, तुम्हारा चलने वाला नहीं है। इसलिए उसे विस्तार से और गहराई से पढ़ो। उसके साथ-साथ उस समय के इतिहास को भी पढ़ो। वह जिन भाषाओं में लिखा गया है, उनके विकास और ह्रास को भी पढ़ो। इसके लिए तुम्हें एक तरफ संस्कृत की तरफ जाकर हिंदी की तरफ आना पड़ेगा और दूसरी तरफ अरबी-फारसी की तरफ जाकर उर्दू तक आना पड़ेगा। और यह काम एक-दो या दस-बीस साल का नहीं, जिंदगी भर का काम है। बड़ा काम है। बोलो, करना चाहोगे?"

"चाहें, तो क्या कर पाएँगे?" हमने डरते-डरते पूछा।

"मन से चाहोगे, तो कर पाओगे।"

"तो बताइए, कहाँ से शुरू करें?"

"उर्दू आती है?" उन्होंने पूछा, लेकिन अगले ही क्षण शायद हमारी पारिवारिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर बोले, "कहाँ से आती होगी! लेकिन उर्दू सीखना ज्यादा मुश्किल नहीं है। जल्दी सीख जाओगे। हम अपने एक मित्र का पता तुमको देते हैं। उनके पास चले जाओ। वे उर्दू साहित्य के जानकार ही नहीं, खुद भी उर्दू के शायर हैं। उनको उस्ताद बनाकर उर्दू शायरी पढ़ोगे, तो हिंदी में अच्छी प्रेम कविता लिखना अपने-आप सीख जाओगे।"

उनके दिए पते पर कॉमरेड अंसारी को खोजते हुए हम जहाँ पहुँचे, वह कानपुर का एक ऐसा इलाका था, जो हमने अभी तक नहीं देखा था। वह औद्योगिक क्षेत्र की एक मजदूर बस्ती थी।

कॉमरेड अंसारी ने हमारा परिचय पाकर स्वागत करते हुए कहा, "अहा, आ गए आप! आपके प्रोफेसर साहब ने फोन पर हमें बता दिया था कि आप आएँगे। कहिए, पहले कभी आप इस तरफ आए हैं?"

"जी, नहीं।"

"ठीक तो है!" कॉमरेड अंसारी व्यंग्यपूर्ण मुस्कान के साथ बोले, "आप उस कानपुर में रहते हैं, जो इस कानपुर की तरफ कम ही आता है।"

फिर उन्होंने बताया कि यह एक मजदूर बस्ती है, जो तब बसी थी, जब कानपुर एक बड़ा औद्योगिक शहर बना था; जब कानपुर में एक जबर्दस्त मजदूर संगठन और आंदोलन हुआ करता था; जब कानपुर में रहने वाले गरीब और दूर-पास गाँवों-कस्बों के भूमिहीन किसान और कारीगर पहली बार कारखानों के मजदूर बने थे; जब हर धर्म और हर जाति के लोगों ने मिलकर मजदूर आंदोलन खड़ा किया था और सर्वहारा वर्ग की शुरुआती लड़ाइयाँ लड़ी थीं। यों कानपुर अब भी एक औद्योगिक शहर है और यहाँ ऐसी कई मजदूर बस्तियाँ हैं, मगर वह आंदोलन इतिहास बन गया है, जो शहर के दूसरे हिस्सों को ही नहीं, बल्कि देश के दूसरे हिस्सों को भी प्रभावित करके अपने होने का अहसास कराया करता था।

कॉमरेड अंसारी उस बस्ती के एक पुराने मगर बड़े-से मकान में रहने वाले संपन्न बुजुर्ग थे। पेशे से वकील थे और सिर्फ मजदूरों के मुकद्दमे लड़ते थे। उनकी बेटियों की शादियाँ हो चुकी थीं और बेटों ने दूसरे शहरों में अपने घर बसा लिए थे। वे खुद यहाँ अपनी बेगम, एक नौकर, एक नौकरानी और अपने दफ्तर के एक सहायक के साथ रहते थे। वकालत अब ज्यादा नहीं चलती थी, फिर भी गुजर-बसर हो रही थी। फालतू वक्त काफी बचता था, सो उसमें वे पढ़ने और लिखने का काम करते थे।

अपने बारे में विस्तार से बताकर उन्होंने हमारे बारे में, हमारी पढ़ाई-लिखाई के बारे में, हमारे घर-परिवार के बारे में और अंततः हमारे कविता लिखने के बारे में पूछा।

शायद हमारे द्वारा दी गई जानकारी से संतुष्ट होकर उन्होंने कहा, "आप प्रेम की कविता लिखना चाहते हैं, तो प्रेम कीजिए। करते हैं? अभी नहीं? कोई बात नहीं, हम उस प्रेम की बात कर भी नहीं रहे। हम उस प्रेम की बात कर रहे हैं, जो खुद से किया जाता है; जो हमें अपनी खुदी से मिलाता है और बेखुदी तक ले जाता है। खुदी के बारे में इकबाल का शेर आपने सुना होगा - 'खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तकदीर से पहले, खुदा बंदे से खुद पूछे, बता तेरी रजा क्या है।' खुदी को बुलंद करने का मतलब है खुद को इतना बड़ा बना लेना कि आप सारी दुनिया से, सारी कायनात से प्यार कर सकें। मगर इसका मतलब खुदा बन जाना या खुद को खुदा समझने लगना नहीं है। खुदा कौन है, क्या है, आप यह जानने के चक्कर में न पड़ें। उसे न कोई जान सका है, न जान ही सकता है। जिस चीज को आप जानते नहीं और जान भी नहीं सकते, वह चीज आप कैसे बन सकते हैं? बन नहीं सकते और फिर भी समझते हैं कि आप वह हैं, तो समझिए कि आप से बड़ा बेवकूफ कोई नहीं। खुदी को बुलंद करने का मतलब अहंकार नहीं है, खुद को औरों से या सबसे बड़ा समझने लगना नहीं है; बल्कि खुद को ऐसी ऊँचाई तक ले जाना है, जहाँ से आप सारी कायनात को देख सकें, उसे बाँहों में लेकर

उससे प्यार कर सकें। जो वहाँ पहुँच जाता है, वह खुद को भूल जाता है। यही बेखुदी है। और दुनिया भर की अच्छी प्रेम कविता इसी बेखुदी के आलम में लिखी गई है।"

इस प्रकार हमने प्रेम का पाँचवाँ पाठ पढ़ा। लेकिन वह ऐसा निकला कि खत्म ही नहीं होता। उसे हम आज तक पढ़ रहे हैं और शायद ताउम्र पढ़ते ही रहेंगे।